सर्व-धर्म समन्वय : अनाग्रह-दृष्टि

"धारणाद् धर्ममित्याहुः"—जो धारण करता है, वही धर्म है। यह उक्ति बहुत ही प्रसिद्ध है और इसकी प्रसिद्धि का कारण मात्र इसकी यथार्थता है, कुछ और नहीं। किसी वस्तु को धारण करने का अर्थ होता है, उसके अस्तित्व को कायम रखना। हर एक पदार्थ में, चाहे वह चल हो या अचल, चेतन हो या अचेतन, कोई न कोई ऐसा तत्त्व अवश्य होता है, जिसके कारण उसका अस्तित्व बना रहता है। यदि उस तत्त्व को उस वस्तु में से हटा दिया जाए तो निश्चित ही वह विनष्ट हो जाएगी, उसकी सत्ता नाम की कोई भी चीज नहीं रह जाएगी। अपने मूल धर्म के कारण ही वह तत्त्व सदा एक-सा रहता है, वह कभी मिटता नहीं, भले ही उसके बाह्यरूप क्यों न बदल जाए। स्वर्ण से कभी हार बनता है, तो कभी अँगूठी, किन्तु स्वर्णत्व जो उसका वास्तविक गुण है, वह नहीं बदलता। मनुष्य के साथ भी यही बात है। उसकी आत्मा अमिट है, अपरिवर्तनशील है, पर उसका शरीर जिसे उसकी बाह्य रूपरेखा कहते हैं, हमेशा बदलता रहता है। जब-जब वह नया जन्म धारण करता है, तब-तब उसका रूप बदलता जाता है। यदि आत्मा न हो, तो शरीर चेतनाशून्य और उपयोगिता रहित हो जाता है।

इसी प्रकार धर्म का जो मौलिक तत्त्व है, वह उसकी आत्मा है और जो सम्प्रदाय है, वह उसका शरीर है। आत्मा की तरह किसी भी धर्म का जो मौलिक सिद्धान्त है, वह बदलता नहीं और उसकी व्यापकता किसी एक स्थान या एक काल तक ही सीमित नहीं होती। क्योंकि धर्म का जो वास्तविक रूप है, वह शाश्वत है, सर्वव्यापी है। यदि कोई सीमा इसमें दिखाई पड़ती है, तो वास्तव में उसका कारण हमारा दृष्टिगत वैविध्य है। ब्राह्मण कहते हैं, जो बातें श्रुति-स्मृतियों में कही गई हैं, वे ही सत्य हैं, इनमें जिन सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है वही धर्म है, शेष जो भी है, उसे धर्म की सीमा में स्थान प्राप्त नहीं होता। जैन कहते हैं कि मात्र आगम ही, जिनमें भगवान् महावीर की वाणी संकलित है, धर्म के स्रोत हैं। बौद्धों का कहना है कि त्रि-पिटक साहित्य (पिटकों) में वर्णित भगवान् बुद्ध के उपदेश के सिवा और कुछ धर्म नहीं कहला सकता। ईसाई मतानुयायी बाईबिल को ही सब-कुछ मानते हैं। यही बात इस्लाम-मतावलम्बियों के साथ है। ये कहते हैं कि कुरान ही धर्म का एकमात्र आधार है। किन्तु तटस्थ होकर सभी धर्मों या मतों को देखने से लगता है कि सब में वही तत्त्व प्राण की तरह काम कर रहा है, जो शाश्वत है, सदा एक-सा है।

प्रश्न उठता है कि शाश्वत धर्म आखिर है क्या? इस प्रश्न के उत्तर में कहना है अहिंसा सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ही मौलिक अथवा शाश्वत धर्म हैं। क्योंकि धर्म या आचार के क्रियाकाण्ड सम्बन्धी जो भी अन्य नियम हैं, वे प्रायः इन्हें ही केन्द्र मानकर प्रचलित हैं। इन पाँच सिद्धान्तों के अलावा जो भी धर्म या आचार सम्बन्धी नियम हैं, वे अमौलिक हैं, ऐसा भी कहना कोई अनुचित न होगा। पर अमौलिक होते हुए भी ऐसे सिद्धान्त समाज पर अपना कम प्रभाव नहीं रखते, क्योंकि यही साम्प्रदायिकता को जन्म देने वाले होते हैं।

जब धर्म सिद्धान्त से व्यवहार की ओर आता है, तब उसे देश और काल की मर्यादा से सम्बन्धित होना पड़ता है और यहीं से सम्प्रदाय या संघ का प्रारम्भ होता है। सम्प्रदाय की मान्यता वहाँ तक सही है, जहाँ तक कि इसका उद्देश्य धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का प्रचार या प्रसार करना है, लेकिन जब वह विभिन्न रूढ़ियों को जन्म दे देता है, तो परिणाम कुछ और ही निकल आता है। कारण, एक दिन वे ही रूढ़ियाँ इस तरह बलवती हो जाती हैं कि वे धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को उसी प्रकार ढक लेती हैं जैसे सूर्य को काले बादल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ढक लेते हैं, तो निश्चय ही सम्प्रदाय एक गलत राह पर आ जाता है। सूर्य के बादलों से ढक जाने के बाद जो दशा भू-मण्डल की होती है, वही दशा शाश्वत धर्म के छुप जाने से समाज की होती है और ऐसी स्थिति किसी एक समाज के लिए ही क्या, बल्कि पूरे संसार के लिए बड़ी घातक होती है।

अब प्रश्न उठता है कि रूढ़िग्रस्त साम्प्रदायिकता को दूर करने का कौन-सा उपाय है? रूढ़ि पैदा होने के दो कारण हैं—अन्ध विश्वास और अपनी मान्यताओं को ही पूर्ण एवं सर्वमान्य समझने का अहंभाव। यदि प्राचीन काल में धर्माचार्यों ने परिस्थिति विशेष में कोई नियम बना दिए, तो आज भी हम उन अनुपयोगी हुए सारे नियमों को ढोते रहें, यह आवश्यक नहीं। ऐसा करने का अर्थ यह नहीं होता कि पूर्व-प्रतिपादित सभी आचारों को बदल कर हम पूर्णतः उन्हें एक नया रूप दें अथवा आचारों का विरोध करें। बल्कि जिन विधि-विधानों का वर्तमान से मेल नहीं हो रहा है, जिनका देश-काल से समुचित सम्बन्ध स्थापित नहीं हो रहा है, उन्हें देश-काल के अनुसार यथार्थ रूप देने का विवेकपूर्वक प्रयास अपेक्षित है, क्योंकि साम्प्रदायिक या अमौलिक नियमों के आधार देश और काल ही होते हैं।

जहाँ तक अपने आपको पूर्ण मानने का प्रश्न है, यह भी किसी धर्म या समाज के लिए हितकर नहीं होता। इसी गलती को दूर करने के लिए जैनाचार्यों ने अनेकान्त तथा स्याद्वाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जब तक व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो जाता, तब तक उसका यह घोषित करना कि हम पूर्णरूपेण सत्य हैं और दूसरा गलत, ऐसा कहना बिलकुल सही नहीं होता। क्योंकि अन्य सभी सिद्धान्त गलत हैं, ऐसा तो तभी कहा जा सकता है, जब सभी सिद्धान्तों को पूर्णतः जान लिया जाए। क्योंकि एक वस्तु के अनेक विधायक एवं निषेधात्मक रूप होते हैं, जिन्हें जानना सामान्य व्यक्ति के लिए असम्भव होता है। हाँ, जो सर्वज्ञ हैं, उनकी तो बात ही कुछ और है। फिर कोई कैसे कह सकता है कि वह स्वयं पूर्णतः ठीक है और दूसरे गलत। अतः सीमित ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए स्याद्वाद का सिद्धान्त बताता है कि यदि कोई व्यावहारिक सत्य है, तो वह किसी खास सीमा तक अथवा किसी खास सम्बन्ध तक ही व्यावहारिक रहता है।

"आज समय आ गया है कि हम एकता की भावना में इकट्ठे हों, ऐसी एकता को यह समृद्धि समेटती है, जिसमें दूसरे धार्मिक विश्वासों की धार्मिक यथार्थताएँ नष्ट न हों, बल्कि एक सत्य को मूल्यवान अभिव्यक्ति के रूप में संजोया जाए। हम उन यथार्थ और स्वतःस्फूर्त प्रवृत्तियों को समझते हैं, जिन्होंने विभिन्न धार्मिक विश्वासों को रूप दिया। हम मानवीय प्रेम के उस स्पर्श, करुणा और सहानुभूति पर जोर देते हैं, जो धार्मिक आस्थाओं के कृति-व्यक्तित्वों की कृतियों से भरी पड़ी हैं। धार्मिक आयाम के अतिरिक्त मनुष्य के लिए कोई भविष्य नहीं है। धर्म की तुलनात्मक जानकारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त में एकान्त अहं नहीं रख सकता। हम जिस संसार में जीवन-यात्रा करते हैं, उसके साथ हमें एक संवाद स्थापित करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि हम धर्मों की लक्षणहीन एकता के लिए काम करें। हम उस भिन्नता को नहीं खोना चाहते जो मूल्यवान आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि को घेरती है। चाहे पारिवारिक जीवन में हो या राष्ट्रों के जीवन में या आध्यात्मिक जीवन में, यह भेदों को एक साथ मिलाती है, जिससे कि प्रत्येक की सत्यनिष्ठा बनी रह सके। एकता एक तीव्र यथार्थ होना चाहिए, मात्र मुहावरा नहीं। मनुष्य अपने को भविष्य के सभी अनुभवों के लिए खोल देता है। प्रयोगात्मक धर्म ही भविष्य का धर्म है। धार्मिक संसार का उत्साह इसी ओर जा रहा है।"[१]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि सभी धर्मों के सिद्धान्तों को, उनकी आस्था को दृढ़ करना है। यह वह पृष्ठभूमि है, जहाँ पर हम विश्वधर्म के महान् धरातल पर

---

१. आधुनिक युग में धर्म। —डॉ० एस० राधाकृष्णन्, पृ० ६४–६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खड़े होते हैं। हमें आज, धर्म-ग्रन्थों में वर्णित साम्प्रदायिक क्रिया-काण्डों के एकान्त आग्रह को एक तरफ रखकर जीवन-व्यवहार्य धर्म की प्ररूपणा करनी है, उन्हें कार्यान्वित करना है और सबकी मूल आस्था को एक साथ संघबद्ध करके समन्वय का आदर्श परिचालित करना है। पारस्परिक सम्मान एवं प्रेम का उदात्त भाव, इस दशा में हमारा महान् सहयोगी बनकर कृष्ण-सरीखे सारथी का काम करेगा। वहीं से धर्म का एक विराट् रूप, सर्वधर्म समन्वय की भावना से उद्भूत हो सकता है।

इस प्रकार अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि हर धर्म समन्वय का स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाए। और, समन्वय का सिद्धान्त तभी सुदृढ़ बन सकता है, जबकि अपने आपको ही पूर्ण सत्य और दूसरों को सर्वांशतः गलत मानने की मनोवृत्ति दूर हो, यानि दूसरों के विचार को भी अमुक रूप में सही माना जाए। साथ ही देश और काल के साथ अपने को अभिनियोजित किया जाए, अर्थात् देश और काल के साथ भी समन्वय किया जाए।

आत्मा का मूल धर्म शुद्ध ज्ञानोपयोग रूप वीतराग-भाव है। जितना-जितना साधक के अन्तर्मन में से राग-द्वेष का भाव कम होगा, उतना-उतना वीतराग-धर्म ज्योतिर्मय होगा। अन्यत्र सर्वत्र विवाद हो सकते हैं, किन्तु वीतराग-धर्म में किसी का कोई विवाद नहीं है।

आत्म-चैतन्य की अशुद्ध-स्थिति अधर्म है और शुद्ध-स्थिति धर्म है। आत्म-चेतना पर राग-द्वेष एवं तज्जन्य हिंसादि विकारों का मल जम जाता है, तो वह अशुद्ध चेतना अधर्म है और यही संसार का अर्थात् बन्धन का मूल है। विकार ही तो संसार है और विकारों से मुक्त पूर्ण निर्विकार स्थिति मोक्ष है। धर्म मुक्ति का साधन है। अतः राग-द्वेष की क्रमिक क्षीणता होना और वीतरागभाव का क्रमिक विकास होना, साधक के लिए आवश्यक है। उक्त स्पष्टीकरण पर से सम्प्रदाय और धर्म का स्पष्ट अन्तर परिलक्षित हो जाता है। अतः वीतराग भावना से अनुप्राणित सम्प्रदाय ही उपादेय है। इसके विपरीत, जो सम्प्रदाय वीतराग भावना से शून्य है, वे सम्प्रदाय नहीं, एक प्रकार के सम्प्रदाह है, जो जन-जीवन को घृणा, विद्वेष आदि की आग में जलाते रहते हैं। आत्म-शान्ति के लिए सम्प्रदाहक संप्रदायों से मुक्त होना अत्यावश्यक है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org